Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 2 | Issue 4 | (Oct – Dec 2025)

शांकर वेदान्त में 'जीवन्मुक्ति' का संप्रत्यय

डॉ० ऋषिका वर्मा
सहायक आचार्य, दर्शन विभाग,
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल, उत्तराखण्ड

सारांशिका :

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'जीवन्मुक्ति' का संप्रत्यय मोक्ष-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट उपलब्धि है। शंकर के अनुसार मोक्ष कोई नवीन उपलब्धि नहीं, बल्कि अज्ञान की निवृत्ति मात्र है। आत्मा स्वभावतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, किन्तु अविद्या के कारण वह स्वयं को देह, इन्द्रिय और मन से तादात्म्य मान लेती है। जब ब्रह्मज्ञान के द्वारा यह अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब जीव अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है और उसी क्षण मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यही मोक्ष यदि शरीर रहते हुए प्राप्त हो, तो उसे जीवन्मुक्ति कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्मवश शरीर धारण करता है, परन्तु वह राग, द्वेष, शोक, मोह और तृष्णा से रहित रहता है। उसके लिए सुख-दुःख, मान-अपमान तथा क्रिया-अक्रिया समान हो जाते हैं। शंकराचार्य ने 'वेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह' में जीवन्मुक्त के अनेक लक्षणों का वर्णन किया है, जिनमें अहंभाव का अभाव, द्वैत का निषेध, शुद्ध चैतन्य में स्थित चित्त तथा समत्वबुद्धि प्रमुख हैं। जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि मोक्ष जीवन से पलायन नहीं, बल्कि जीवन में रहते हुए पूर्ण बोध और स्वतंत्रता की अवस्था है। इस प्रकार शंकर का जीवन्मुक्ति-संप्रत्यय अद्वैत वेदान्त की दार्शनिक परिपक्वता और व्यावहारिक दृष्टि को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है।

बीज शब्द : सांसारिक दुःख, मोक्ष, पुरुषार्थ, आत्मज्ञान, अज्ञान, जीवन्मुक्ति

प्रस्तावना :

प्राचीन ऋषियों एवं महर्षियों ने इस तथ्य का अनुभव किया था कि जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से छुटकारा ही समस्त साधनाओं का लक्ष्य है।[1] शिवमहिम्नः स्तोत्र में कहा गया है कि रुचियों की विचित्रता के कारण सीधे-टेढ़े नाना मार्गों से चलने वाले साधकों के लिए एकमात्र प्राप्तव्य आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गों से बहने वाली सभी नदियाँ अन्ततः समुद्र में ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतानुयायी आपके ही पास पहुँचते हैं।[2] अर्थात् जिस प्रकार बहती हुई नदियों के अनेक जल-प्रवाह बड़े वेग से समुद्र की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार ईश्वर-प्राप्ति के लिए विभिन्न शास्त्रों एवं दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों, किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है- आत्मप्राप्ति। मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है कि जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप का त्याग कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है।[3]

इसी आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए देवर्षि नारद आत्मज्ञानी सनत्कुमार के पास गए और उनसे उस विद्या को जानने की इच्छा प्रकट की, जिससे समस्त दुःखों का नाश होकर परमश्रेय की प्राप्ति होती है।[4] कठोपनिषद् में बताया गया है कि बालक नचिकेता इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों के प्रलोभन में नहीं पड़ता तथा यमराज से आत्मविद्या एवं मोक्षशास्त्र का उपदेश प्राप्त कर अमरत्व को प्राप्त होता है।[5] इसी प्रकार मैत्रेयी के सांसारिक सुखों से असन्तोष ने ज्ञानी याज्ञवल्क्य को उसे पराविद्या का ज्ञान देने के लिए प्रेरित किया, जिससे अमरत्व की प्राप्ति होती है और सांसारिक दुःखों से मुक्ति मिलती है।[6] महात्मा बुद्ध को भी जीवन-मृत्यु के इस चक्र ने ही वैराग्य धारण करने के लिए विवश किया और अन्ततः उन्होंने दुःख-निवृत्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया। भगवान् महावीर का उद्देश्य भी जीवन को कर्म-बन्धन से मुक्त कर कैवल्य की प्राप्ति कराना था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से उन आलोचकों का स्वतः खण्डन हो जाता है, जो भारतीय दर्शन को निराशावादी एवं पलायनवादी कहते हैं। जीवन्मुक्ति के आदर्श को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार न करने वाले न्याय-वैशेषिक[7] और विशिष्टाद्वैत[8] जैसे दर्शनों में भी इस लोक में ही ज्ञान की ऐसी अवस्था की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, जो संसार के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को पूर्णतः परिवर्तित कर बाद के जीवन को एक नया अर्थ प्रदान कर देती है।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब हृदय की सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और इसी लोक में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[9] मुण्डकोपनिषद् में यह भी कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[10] आचार्य गौड़पाद के अनुसार जीव अनादि माया में सोया हुआ है; जब वह ब्रह्मज्ञान से जाग्रत होता है, तब अज्ञान-निद्रा से मुक्त होकर अद्वैत तत्त्व को जान लेता है।[11] कर्म ही बन्धन का कारण है, इसलिए गीता में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[12] ब्रह्मात्म-ऐक्य की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। ब्रह्मरूप होना ही आनन्दस्वरूप होना है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष कोई नई वस्तु नहीं है जिसे प्राप्त किया जाए। जीव का स्वयं को वैसा ही समझ लेना मोक्ष है, जैसा वह वास्तव में है और सदा से रहा है; किन्तु अविद्या के कारण वह कुछ समय के लिए अपने सहज स्वरूप को भूल गया था। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शंकराचार्य ने गान्धारवासी राजकुमार का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिसका पालन-पोषण बचपन से ही एक शिकारी के घर हुआ, परन्तु बाद में उसे यह ज्ञात होता है कि वह एक राजकुमार है।[13] यहाँ वह कोई नया नहीं बन गया, क्योंकि वह पहले से ही राजकुमार था; केवल उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। इसी प्रकार मोक्ष को भी समझना चाहिए।

आत्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सदाचरण और अन्तःकरण-शुद्धि निश्चय ही आवश्यक हैं, किन्तु ये केवल ज्ञान के सहायक साधन हैं, मोक्ष के नहीं।[14] मोक्ष-प्राप्ति के ये नैतिक साधन दो प्रकार के माने गए हैं-बहिरंग और अन्तरंग। विवेक, वैराग्य, शम-दमादि और मुमुक्षुत्व-ये चार बहिरंग साधन 'साधन-चतुष्टय' कहलाते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन-ये तीन अन्तरंग साधन हैं। निदिध्यासन का अर्थ ब्रह्मात्मस्वरूप का सतत ध्यान करना है। ध्यान जितना अधिक अभ्यासपूर्वक और दीर्घकाल तक किया जाता है, उतना ही आत्मज्ञान अधिक स्पष्ट होता जाता है। इस प्रकार श्रुति से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, जो तर्क और ध्यान के माध्यम से अपरोक्ष ज्ञान में परिणत हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति मात्र है। अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से ही होता है, जिस प्रकार अन्धकार का नाश प्रकाश से होता है। अज्ञान के निवृत्त होते ही मोक्ष यहीं और अभी प्राप्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति का शरीर प्रारब्ध कर्म के अनुसार विद्यमान रहता है, परन्तु वह व्यक्ति संसार के प्रपंचों से अलिप्त रहता है। मोह उसे नहीं सताता, शोक उसे अभिभूत नहीं करता तथा सांसारिक विषयों के प्रति उसमें कोई तृष्णा नहीं रहती। यह जीवित अवस्था में ही प्राप्त होने वाली मुक्ति है और ऐसा व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है।

शंकराचार्य ने अनेक युक्तियों के माध्यम से जीवन्मुक्ति को प्रमाणित एवं सिद्ध किया है। अद्वैत वेदान्त की यह एक सर्वोच्च उपलब्धि है। सदेह मुक्ति से आचार्य का अभिप्राय यह है कि शरीर रहते हुए भी व्यक्ति को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मुक्ति जीवन का लक्ष्य है और इसे इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है।[14] मोक्ष नित्य और शाश्वत है। स्थूल शरीर पंचभौतिक है तथा सूक्ष्म शरीर इन्द्रिय एवं अन्तःकरण से निर्मित है। कारण शरीर अविद्या और कर्म-संस्कारों से उत्पन्न होता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु कारण शरीर जीव के साथ संलग्न रहता है और उसे पुनर्जन्म के लिए बाध्य करता है। मोक्ष अशरीरी है और त्रिविध शरीरों से रहित है। नित्यत्व और अशरीरत्व आत्मा का स्वभाव है। आत्मा और शरीर का तादात्म्य मिथ्या है-यह अध्यास है, भ्रान्ति है। अतः अधिष्ठानभूत आत्मसाक्षात्कार के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर, शरीर रहते हुए भी अशरीरत्व अथवा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।[15]

इस अवस्था में शरीर को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते।[16] जैसे सर्प को अपनी केंचुली उतारने में कोई आसक्ति नहीं रहती, वैसे ही जीवन्मुक्त को अपने शरीर में कोई आसक्ति नहीं होती, क्योंकि उसके लिए शरीर भी अमृत ब्रह्म ही है।[17] यहाँ मृत्यु का नाश हो जाता है और अमृत के दर्शन होते हैं। अन्धकार नष्ट हो जाता है और सत्य का साक्षात्कार होता है। यहीं से अभिनव जीवन का प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व वह अवस्था मृतक तुल्य होती है। जिस प्रकार मदिरा से मतवाला व्यक्ति इस बात की चिन्ता नहीं करता कि उसका वस्त्र उसके शरीर पर है या गिर रहा है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यक्ति को भी इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि उसकी देह पड़ी है या खड़ी है। यथा-

देहश्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।।[18]

जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान होते ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इसके पश्चात् संचित, संशय एवं विपर्ययप्रभृति कर्म स्वतः नष्ट हो जाते हैं। तब ब्रह्मवेत्ता जीव जीवित रहते हुए भी संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष को जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष की हृदय-ग्रन्थि भेदित हो जाती है, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसी तथ्य को मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।[19]

इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष स्वयं का ब्रह्म से अभेद-ज्ञान है और यह आवश्यक नहीं कि यह ज्ञान मनुष्य को जीवनकाल में प्राप्त न हो। अतः वे जीवन्मुक्ति के संप्रत्यय को स्वीकार करते हैं। उनका स्वयं का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आत्मज्ञान और शरीर की उपस्थिति में कोई आत्मविरोध नहीं है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए वे प्रश्न करते हैं-यदि जीवन्मुक्त इस संसार में न होते, तो संसार का पथप्रदर्शन कौन करता? दूसरे, किसी अन्य व्यक्ति को जीवन्मुक्ति के संप्रत्यय का खण्डन करने का अधिकार भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं अपूर्ण ज्ञानी होगा। शंकराचार्य पूर्वपक्षी के रूप में यह प्रश्न उठाते हैं कि किसी व्यक्ति के शरीर रहते हुए ब्रह्म-ज्ञान के अन्तरंग अनुभव के विषय में कोई अन्य व्यक्ति विवाद कैसे कर सकता है?[20]

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जीवन्मुक्ति का संप्रत्यय सदैव से विभिन्न वेदान्ती सम्प्रदायों में तथा स्वयं शंकर के अनुयायियों के बीच विवाद का विषय रहा है। अन्य वेदान्तियों की आपत्ति यह है कि शरीर अविद्या अथवा कर्म का परिणाम है और मोक्ष ब्रह्मज्ञान है; तब यह कैसे सम्भव है कि मोक्ष भी प्राप्त हो जाए और अविद्या अथवा कर्म का परिणाम शरीर भी विद्यमान रहे? क्या प्रकाश और अन्धकार एक साथ रह सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि केवल सकाम कर्म ही अतृप्त इच्छाओं से प्रेरित होते हैं और बन्धन का कारण बनते हैं। निष्काम कर्म बन्धन का कारण नहीं होते। मुक्तात्मा जीवित अवस्था में ही अहंभाव से ऊपर उठ जाता है और इस प्रकार विधि-विधान तथा कर्म के शासन से भी परे हो जाता है। वह सर्वोच्च सत्ता की भावना से ओतप्रोत होकर कर्म करता है। अतः कर्म और मुक्ति के बीच अनिवार्य प्रतिकूलता नहीं है।[21]

मुख्य समस्या यह है कि मोक्ष की प्राप्ति और शरीर की उपस्थिति-इन दोनों के बीच सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाए। इसका समाधान यह है कि ज्ञान के उदय के पश्चात् भी अज्ञान अथवा अविद्या का एक अंश शेष रह जाता है, जिसे अविद्यालेश कहा जाता है। जिस प्रकार हींग के पात्र को धोने पर भी उसकी गन्ध शेष रह जाती है, उसी प्रकार अज्ञान की वासना का शेष रहना अविद्यालेश कहलाता है। इसी अविद्यालेश के कारण प्रारब्ध कर्म का भोग समाप्त

होने तक मुक्त जीवन का शरीर बना रहता है। मुक्त जीव अपने संचित तथा क्रियमाण कर्मों को नष्ट कर देता है। प्रारब्ध कर्म के समाप्त होने पर उसका देहपात होता है और पुनर्जन्म नहीं होता। अतः मोक्ष-प्राप्ति के उपरान्त भी शरीर की विद्यमानता में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार दण्डिका हटा लेने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त का शरीर भी प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक बना रहता है।[22]

शंकराचार्य ने वेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह[23] में जीवन्मुक्त के कुछ लक्षणों का वर्णन किया है, जिनका विवेचन अपेक्षित है-

1. जिस अवस्था में न असत् है, न सत् है, न 'मैं' है और न अहंकार है; केवल अद्वितीय ब्रह्म में मन क्षीण होकर अत्यन्त निर्भय रहता है। आकाश में स्थित रिक्त घट के समान वह अन्तःशून्य और बहिःशून्य है; तथा समुद्र में पड़े घट के समान भीतर पूर्ण और बाहर पूर्ण है। जैसे वह स्थित है, वैसे ही सब व्यवहार करने वालों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत् अस्त हो गया है और केवल सम आकाश ही शेष रहता है-वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
2. जिसके मन की प्रभा न सुख में उदित होती है और न दुःख में अस्त होती है; जो प्राप्त परिस्थिति में समभाव से स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
3. जो सुषुप्ति में स्थित होकर भी जाग्रत रहता है, जिसकी कोई विशेष जाग्रदवस्था नहीं है, और जिसका तत्त्वज्ञान वासनाशून्य है,वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
4. राग, द्वेष, भय आदि के अनुरूप आचरण करता हुआ भी जो भीतर आकाश के समान अत्यन्त निर्मल है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
5. करते हुए अथवा न करते हुए भी जिसमें अहंकृति-भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
6. पर-प्रयोजनों के समान समस्त विषय-जालों में व्यवहार करता हुआ भी जो शीतल और पूर्णात्मा है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
7. द्वैत-रहित चैतन्यमात्र परम पवित्र पद में जो क्षोभ-रहित एवं विश्रान्त चित्त वाला है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
8. 'यह जगत्', 'यह', 'वह' इस प्रकार का समस्त मिथ्या दृश्य समुदाय जिसके चित्त में स्फुरित नहीं होता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
9. 'मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं परात्पर निर्गुण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो केवल आत्मरूप में स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
10. 'मैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों से पृथक् हूँ; मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ; मैं ब्रह्म हूँ' जिसके चित्त में ऐसी भावना दृढ़ है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
11. जिसके लिए देह आदि नहीं हैं, अर्थात् देह आदि में जिसकी अहंबुद्धि नहीं है; जिसे 'मैं ब्रह्म हूँ' इसका दृढ़ निश्चय है और जो परमानन्दपूर्ण है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।
12. 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ; मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' ऐसा जिसका निश्चय है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

निष्कर्ष :

शंकराचार्य का जीवन्मुक्ति-संप्रत्यय भारतीय दर्शन, विशेषतः अद्वैत वेदान्त, की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मौलिक देन है। यह सिद्धान्त मोक्ष को केवल मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होने वाली अवस्था न मानकर, जीवन के भीतर ही सम्भव

और सुलभ सिद्ध करता है। शंकर के अनुसार मोक्ष अज्ञान की निवृत्ति मात्र है और यह निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव है। जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप शुद्ध, नित्य, निर्विकार और ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेती है, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यदि यह ज्ञान शरीर रहते हुए प्राप्त होता है, तो वही जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्म के कारण शरीर धारण करता हुआ भी राग-द्वेष, सुख-दुःख, मोह-शोक और अहंभाव से मुक्त रहता है। उसके लिए संसार बन्धन का कारण नहीं, बल्कि केवल एक व्यवहारिक सत्ता बन जाता है। वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता भाव में स्थित रहता है और निष्काम भाव से लोककल्याण में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति जीवन से पलायन नहीं, बल्कि जीवन के भीतर रहकर पूर्ण स्वतंत्रता, समत्व और आत्मबोध की अवस्था है। शंकराचार्य द्वारा जीवन्मुक्त के लक्षणों का जो सूक्ष्म विवेचन किया गया है, वह साधक को केवल सैद्धान्तिक ज्ञान ही नहीं देता, बल्कि आत्मपरीक्षण का व्यावहारिक आधार भी प्रदान करता है। यह संप्रत्यय यह स्पष्ट करता है कि आत्मज्ञान और सामाजिक जीवन में कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः जीवन्मुक्त व्यक्ति समाज के लिए मार्गदर्शक और प्रेरणा का स्रोत बनता है।

सन्दर्भ-सूची :

1. भारतीय दर्शन का सामाजिक परिप्रेक्ष्य, वीरेन्द्र कुमार राय, पृष्ठ सं. 22।
2. शिवमहिम्नः स्तोत्र, श्लोक 07।
3. मुण्डकोपनिषद्, 3।8।
4. छान्दोग्य उपनिषद्, 7।1।3।
5. कठोपनिषद्।
6. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2।4।3।
7. वात्स्यायन, न्यायसूत्र भाष्य, 4।2।2।
8. रामानुज, श्रीभाष्य, 4।1।13।
9. कठोपनिषद्, 2।3।14।
10. मुण्डकोपनिषद्, 3।2।6।
11. माण्डूक्यकारिका, 1।16।
12. गीता, 4।37।
13. बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य, 2।1।20।
14. शारीरक भाष्य, 1।1।4।
15. शारीरक भाष्य, 1।1।4।
16. छान्दोग्योपनिषद्, 8।12।1।
17. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4।4।7।
18. भागवत पुराण, 11।13।36।

19. मुण्डकोपनिषद्, 2।2।8।

20. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 4।1।15।

21. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग–2, पृ. 604।

22. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 4।1।15।

23. वेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह, श्लोक 165–178।